धर्मनिरपेक्षता को पुनः परिभाषित करें

भारत में धार्मिक स्वतंत्रता का प्रयोग आज विफल होता दिखाई दे रहा है। हमारे धर्म निरपेक्षता के नारे में धार्मिक निरपेक्षता का दिखावा होता रहा, और वास्तव में तुष्टिकरण की नीति चलती रही। इस नीति ने किसी को शक्तिशाली नहीं बनाया, परन्तु अन्याय सबके साथ होता रहा। यही कारण है कि धर्मनिरपेक्षता ने समाज को जोड़ने के स्थान पर अलग-अलग धार्मिक समुदायों को विखंडित कर दिया।

वर्तमान में सालों तक चलने वाले मुसलमानों के अतिक्रमण के विरूद्ध हिन्दुओं ने सिर उठाना शुरू कर दिया है। और अब हमारी धार्मिक सहिष्णुता और बहुलवादी प्रजातंत्र पर आंच आनी शुरू हो गई है। हमें तत्काल ही धर्मनिरपेक्षता को फिर से परिभाषित करने की आवश्यकता है, जिसमें धर्म की स्वतंत्रता हो, परन्तु कानून के समक्ष समानता हो। इसका सीधा सा अर्थ यही है कि राज्य और धर्म को अलग रखा जाए।

किसी भी देश में धर्मनिरपेक्षता की सफलता के लिए ये आवश्यक शर्तें हैं। भारत में सभी को धार्मिक स्वतंत्रता दी गई। परन्तु कानून के समक्ष सबको समान नहीं माना गया। भारत में धर्मनिरपेक्षता के सिद्धांत को इसके गणतंत्र बनने के साथ ही विफलता मिलने लगी थी, क्योंकि तत्कालीन सरकार ने हिन्दुओं की सामाजिक परम्पराओं को तो कानूनी जामा पहना दिया, परन्तु मुसलमानों को शरिया कानून मानते रहने की छूट दे दी। सात दशकों से समान आचार संहिता की बात संविधान के नीति निर्देशक सिद्धांतों में दबी पड़ी है।

राज्य और धर्म को अलग न रखने की नीति ने ही हमारे धार्मिक सद्भाव को समाप्त किया है। भारत की केन्द्र और राज्य सरकारें धार्मिक गतिविधियों का हिस्सा बनी हुई हैं। वे धार्मिक संस्थानों की रक्षक हैं, धार्मिक संस्थानों को अनुदान मुहैया कराती हैं, उन्हें सरकारी अनुबंध उपलब्ध कराती हैं, सार्वजनिक भूमि देती हैं और तो और उन्हें तीर्थ यात्रा भी करवाती हैं। यह सब इसलिए, क्योंकि संविधान में धार्मिक संस्थानों को समवर्ती सूची में रखा गया है।संवैधानिक अवरोध न होने के कारण हमारी सरकारों ने धर्मों के प्रति अपने क्रियाकलापों में पूर्ण स्वतंत्रता का उपभोग किया और वही किया जो सियासी तौर पर उन्हें उपयुक्त लगा।

नेहरू ने समाजवाद की स्थापना के लिए धर्मनिरपेक्षता को एक हथियार माना। उनके अनुसार 'धर्मनिरपेक्ष' शब्द सामाजिक और राजनैतिक समता का प्रतीक था। परन्तु नेहरू की 'साम्प्रदायिकता' और 'धर्मनिरपेक्षता' की सोच ने समाधान की जगह अवरोध पैदा किए।नेहरू की साम्प्रदायिक पहचान न दिए जाने का विचार बहुत ही अव्यावहारिक प्रतीत होता है। आज जब बहुसंख्यकों को अवसर मिला है, तो वे सदियों से चली आ रही अल्पसंख्यकों के तुष्टिकरण की नीति के विरूद्ध उठ खड़े हुए हैं। इससे पहले कि हिन्दुओं की कौमपरस्ती अपनी हद पार कर जाए, हमें समय रहते धर्मनिरपेक्षता को पुनः परिभाषित कर देना चाहिए।

- अब जो धर्मनिरपेक्षता आए, वह खरी हो। इसमें स्वतंत्रता, समानता और पृथक्करण जैसे तीन मूलभूत तत्व शामिल हों। स्वतंत्रता की बात तो पहले ही संविधान में उल्लिखित है। अब बाकी दो को कानूनी जामा पहनाने की आवश्यकता है।
- कानून के समक्ष धार्मिक समानता के लिए हमें समान आचार संहिता को अपनाना ही होगा। भारत को मुस्लिम जनता को अपने विश्वास में लेते हुए आगे बढ़ना होगा। और उन्हें समझाना होगा कि अब राशन की उपलब्धता एक पति@पत्नी के हिसाब से ही होगी।
- देश की आपराधिक प्रक्रिया कोड **(Criminal Procedure Code)** के अंतर्गत दी जाने वाली छूट को समाप्त करना होगा। पुलिस या शासन की सहायता सबको समान आधार पर मिले। अगर एक मुसलमान महिला तलाक संबंधी सहायता चाहती है, तो उसे अन्य सम्प्रदायों की महिलाओं के समान ही सहायता दी जाएगी।
- राज्य और धर्म के पृथक्करण के लिए भारत को अमेरिका की ही तर्ज पर संविधान में संशोधन करना चाहिए। इस संशोधन में स्पष्ट किया जाए कि 'किसी धर्म की स्थापना या उसके निषेध के लिए संसद कोई कानून नहीं बना सकती।'

हिन्दुओं को राज्य और धर्म के पृथक्करण का विरोध यह कहकर कदापि नहीं करना चाहिए कि उनका धर्म तो प्रकृति से ही धर्मनिरपेक्ष है। अगर हिन्दुत्व में भारतीयता है और अगर वह अनेकता में एकता को लेकर चलने वाला है, तो उसे कानून में ऐसा प्रतिबिंबित होने में संकोच नहीं होना चाहिए।

धर्म तो एक व्यक्तिगत मामला है। इससे राजनेताओं, सांसदों और नौकरशाहों का क्या लेना-देना। हमारी वर्तमान धर्मनिरपेक्षता का स्वरूप रंगहीन और रसहीन हो चला है। इसका फायदा नेता और समाज के अराजक तत्व उठा रहे हैं। भारत को जल्द से जल्द विश्व के अन्य देशों की तरह धर्मनिरपेक्षता अपनाकर उसी कतार में सुशोभित हो जाना चाहिए।

'द टाइम्स ऑफ इंडिया' में प्रकाशित भानू डालमिया के लेख पर आधारित।